International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 31-08-2021, Accepted: 15-09-2021, Published: 30-09-2021
Volume 7, Issue 5, 2021, Page No. 68-72

हिन्दी ग़ज़लों में स्त्री विमर्श

आरती देवी
पी.एच.डी. शोधार्थी, हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, जम्मू केंद्रिय विश्वविद्यालय, जम्मू और कश्मीर, भारत

सारांश
आज जब हिन्दी ग़ज़ल औरत से बातचीत करती है तो वह उससे प्रेम की बात नहीं करती बल्कि उसके अन्तर्मन में छुपी युगों की पीड़ा तथा उसके जीवन के अंधेर–बंद कमरों को खंगाल कर उसे दिशाबद्ध करती है। परिवार संस्था के कारण घर का सारा काम महिला ने संभाला तथा पुरुष बाहरी काम को संभालने लगा। धीरे–धीरे इस कार्य के विभाजन ने इतना विकराल रूप धारण कर लिया कि स्त्री घर के अंदर ही महदूद रह गयी। हमारा समाज मातृसत्तात्मक से परिवर्तित होकर पितृसत्तात्मक सांचे में ढल गया। इस प्रकार समाज की संरचना पुरुष केंद्रित हो गई जिसमें स्त्री का अस्तित्व विलुप्त होता चला गया। बचपन से ही उसको समाज के रूढ़िवादी संरचना में ढालने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है तथा किशोरावस्था तक वह पूर्ण रूप से उस प्रक्रिया में ढल चुकी होती है। संघर्ष तथा शोषण दोनों स्त्री जीवन के अभिन्न अंग बन चुके हैं। न तो संघर्ष किए बिना अपने अस्तित्व को स्थापित कर सकती है और न वह कभी शोषण मुक्त हो सकती है। हिन्दी ग़ज़लों में स्त्री के अबला तथा सबला दोनों रूपों को उसकी समस्याओं तथा चुनौतियों के साथ बारीकी के साथ उसके जीवन की गाथा को उकेरा है।

मूलशब्द: नारी, सुरक्षा, यौन हिंसा, पितृसत्तात्मक, दहेज, नारी–सशक्तिकरण

प्रस्तावना

स्त्री तथा पुरुष के संयोग से मानव जीव का निर्माण होता है। अर्थात् वह दोनों मिलकर ही सृष्टि के निर्माण को पूरा कर सकते हैं। दोनों की भूमिका की अपनी–अपनी अहमियत है। परिवार संस्था तथा कृषि स्थापित होने से पूर्व हमारा समाज मातृसत्तात्मक था। परिवार संस्था के कारण घर का सारा काम महिला ने संभाला तथा पुरुष बाहरी काम को संभालने लगा। धीरे–धीरे इस कार्य के विभाजन ने इतना विकराल रूप धारण कर लिया कि स्त्री घर के अंदर ही महदूद रह गयी। हमारा समाज मातृसत्तात्मक से परिवर्तित होकर पितृसत्तात्मक सांचे में ढल गया। स्त्री का अर्थ त्याग, तपस्या, संघर्ष, आज्ञाकारी, शांत स्वभाव आदि विशेषणों तक बंध गया। घर की चार दिवारों के भीतर ही उसकी आदर्शवादी भूमिका मानी गई। इस प्रकार समाज की संरचना पुरुष केंद्रित हो गई जिसमें स्त्री का अस्तित्व विलुप्त होता चला गया। बचपन से ही उसको समाज के रूढ़िवादी संरचना में ढालने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है तथा किशोरावस्था तक वह पूर्ण रूप से उस प्रक्रिया में ढल चुकी होती है।
आज जब हिन्दी ग़ज़ल औरत से बातचीत करती है तो वह उससे प्रेम की बात नहीं करती बल्कि उसके अन्तर्मन में छुपी युगों की पीड़ा तथा उसके जीवन के अंधेर–बंद कमरों को खंगाल कर उसे दिशाबद्ध करती है। सदियों से इस खामोशी की टीस को नलिनी विभा 'नाज़ली' से इस प्रकार व्यक्त किया है–

औरत थी क़त्ल हो गई जो खामुशी के साथ,
अपनी अना को खो गई वो खामुशी के साथ।
धमकाया गया रौंदा गया रोजो–शब उसे,
हर ज़ख्म सह के सो गई वो खामुशी के साथ।[1]

पुरुषसत्तात्मक समाज के प्रति कभी भी उसके भीतर गुस्सा तथा विद्रोह नहीं पनपा बल्कि वह कर्त्तव्य की आड़ में हर जुल्म को खामोशी से सहती गई। चूल्हा–चौका जोकि स्त्री के स्वेच्छानुसार अपने लिए चुना था वही उसके जीवन का दायरा बन गया। उसके जीवन का अनिवार्य अंग बना तथा उसके सर्वगुणसम्पन्न होने का आधार भी बन गया। वर्षा सिंह का शे'र है–

देखा यहाँ उदास ख़यालों में औरतें,
उलझे हुए जवाब, सवालों में औरतें।
चूल्हे की आँच और धुँधाती रसोई में,
झुलसी सुबह से शाम निवालों में औरतें।[2]

सवालों तथा जवाबों में उलझन उसके जीवन की दिशाहीनता की ओर संकेत करते हैं। न तो उसे प्रश्न का पता है, न उसे सही उत्तर मिल पा रहे हैं। वह भीतर ही भीतर प्रश्न–उत्तर के झाल में फंस रही है। नारी जीवन की बिडम्बना यह है कि उसे रसोई तथा भोग की वस्तु से इतर समझा ही नहीं गया। वह दिन भर कोल्हू की बोल की तरह कार्य करती रहती है जिसके पास स्व की लिए न वक्त है न कोई सपना या अरमान। परिवार की खातिर वह सर्वस्व न्यौछावर कर देती है। इतना सब करने के उपरान्त भी उसे अपमान तथा शोषण का सामना करना पड़ता है। वर्षा सिंह पितृसमाज की विचारधारा पर कटाक्ष करते हुए लिखती है–

रातों में बिस्तर में फकत देखते रहे,
देखी गई न उनसे उजालों में औरतें।[3]

स्त्री के कौशल को दरकिनार उसे केवल बिस्तर के पैमाने पर मापा जाता है जोकि पुरुष की रूढ़िवादी सोच का द्योतक है। संघर्ष तथा शोषण दोनों स्त्री जीवन के अभिन्न अंग बन चुके हैं। न तो संघर्ष किए बिना अपने अस्तित्व को स्थापित कर सकती है और न वह कभी शोषण मुक्त हो सकती है। त्रेता युग से लेकर द्वापर युग तक, द्वापर से कलयुग तक प्रत्येक युग में उस पर जुल्म की गाथा मिल जाएगी। रीतिकाल में हिन्दी साहित्य में

श्रृंगार की प्रधानता रही। परन्तु उस काल में न केवल श्रृंगार बल्कि स्त्री मन का भी बड़ी गहराई के साथ चित्रण हुआ है। अतीत और वर्तमान में स्त्री मन की व्यथा को निम्न संदर्भ में देखा जा सकता है–

कहति न देवर की कुबत, कल–तिय कलह डराति,
पंजर–गत मंजार–ढिग सुक ज्यौं सूकति जाति।[4]
काम पर, राह में, घर में भी ज़ुल्म है,
सारे कानून हैं बेअसर दिखते।[5]

बिहारी द्वारा इस दोहे में तत्कालीन समाज की उस कल–तिय अर्थात् कुल स्त्री का चित्रण हुआ है जो अपने देवर के दुर्व्यवहार से परेशान तो है परन्तु वह परिवार में कलह को रोने के लिए उसके दुर्व्यहार की चर्चा किसे से नहीं करती। ऐसी स्त्री को ही मर्यादावान तथा गुणवान माना जाता है। इसके विपरीत अगर वह किसी से दुर्व्यवहार की बात कह दे तो वह कुलटा मानी जाती है। इस दोहे का अगर मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाए तो यह बात उभर कर समाने आयेगी कि 'देवर' उस पर–पुरुष वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहा है जिसके द्वारा घर के भीतर ही स्त्री शोषिण का शिकार हो रही। अर्थात् वह घर (ससुराल) जिसे वह अपना घर कहती है, वह भी जोखिमों से भरा है। वह अपने मानसिक तनाव तथा अपने भय का कारण किसी को नहीं बता सकती है। आज अगर इस दोहे का विश्लेषण किया जाए तो यह स्त्री मर्यादा नहीं बल्कि स्त्री–शोषण की ओर संकेत करता है। आज नारी–उत्थान का दौर है परन्तु वह आज भी हर जगह अपने प्रति हो रहे अपमान का सामना कर रही है। बिहारी द्वारा उस नारी का चित्रण हुआ है जो घर के भीतर ही उपेक्षित तथा मानसिक तनाव से गुज़र रही थी। आज युग परिवर्तन के साथ जब वह बाहर निकली तो वहां भी उसके साथ अत्याचार हो रहा है। घर, राह और काम हर क्षेत्र में स्त्री अपना लोहा मनवा तो चुकी है परन्तु हर जगह सहमी सी रहती है।

काल बदला तो उसके साथ होने वाले शोषण का रूप भी बदला। हमारे समाज की मान्यताओं के अनुसार लड़की को परिवार का अल्पकालीन सदस्य माना जाता है। बेटी पराया धन है, वह दूसरे घर की अमानत है आदि ऐसे सामाजिक मुहावरे हैं जो उसे हर पल अहसास दिलाते हैं कि पति का घर ही उसका असली घर है। जैसे–जैसे लड़की की उम्र बढ़ती है, पिता उसके विवाह के लिए परेशान हो जाता है। माता–पिता की चिंता का ज़िक्र करते हुए वशिष्ठ जी की पंक्तिया हैं–

बेटियाँ बढ़ती तो माँ–बाप खुश नहीं होते,
पाँव फूलों के झिझकते हैं अब जवानी से।[6]

पितृसमाज ने समाज में ऐसा माहौल बनाया है कि वधु पक्ष वाले सदैव वर पक्ष के आगे सर झुकाए खड़े रहते हैं तथा उनके द्वारा प्रत्येक माँग को पूरा किया जाता है। जिसके परिणामस्वरूप बेटी का पिता कई बार आजीवन ऋण के जाल में फंस जाता है। पिता की बेबसी को श्रीमती कृष्णकुमारी 'कमसिन' इस प्रकार बंया करती हैं–

बेटियों का घर बसाना था उसे,
बेचना आखिर, पड़ा घर–बार तक।[7]

कुछ वर्षों पूर्व रेड़ियो में हम अकसर यह वाक्य सुनते थे कि 'बेटा अगर एक घर का चिराग है तो बेटी दो घरों की रोशनी' समाज का यह दोहरा व्यवहार है कि एक ओर तो वह उसे दो घरों की रोशनी मानता है जबकि यथार्थ के धरातल पर उस रोशनी के जीवन में दुःख, बेबसी तथा घुटन से बरा पड़ा है। आजीवन वह मायके तथा ससुराल पक्ष के मध्यंतर झूझती रहती है। जिस पति घर के उसे सपने दिखाए जाते हैं अंत में वहाँ से यह सुनना पड़ता है कि 'यह तुम्हारे पिता का घर नहीं है।' वह ऐसी रोशनी है जिसका न अपना कोई घर है न ठिकाना।

परिवार ही वह आधार है जो समाज में स्त्री–पुरुष के भेदभाव की नींव रखता है। असमानता की शुरूआत घर से ही शुरू होती है। लड़का तथा लड़की दोनों एक ही परिवार में जन्म लेने के उपरान्त दोनों के प्रति घर के सदस्यों का व्यवहार अलग–अलग होता है। सभी सुविधाओं पर बेटे का अधिकार होता है तथा बेटी उपेक्षित रहती है। बेटा होने पर सभी छाती–चौड़ी कर उसके आगे की सूचना देते हैं तथा बेटी होने पर उन्हें लज्जा आने लगती है। उनके स्वाभिमान तथा अहं को ठेस पहुँचती है। भारतीय समाज में जितने भी धार्मिक कर्म–कांड किए जाते हैं सब में पुरुष की प्रधानता रही है। पुत्र को वंश की परंपरा को आगे बढ़ाने के लिए आवश्यक माना गया है, जिस कारण कन्या–भ्रूण हत्या जैसी समस्या का जन्म हुआ। पुत्र के हाथों श्राद्ध, तर्पण, मोक्ष–प्राप्ति, बुढ़ापे का सहारा आदि ऐसी धारणाएं बनी जिनके कारण पितृसत्तात्मक समाज की पकड़ मजबूत होती गई। मालिनी गौतम स्त्री की अहमियत बताते हुए लिखती है–

जिसे दुनिया में आने से पहले मार देते हो तुम,
गलाकर जिस्म अपना वो तुम्हें दुनिया में लाती है।[8]

वशिष्ठ अनूप की पंक्तियाँ हैं–

कुछ अजन्मों की हत्या हुई गर्भ में,
जन्म के बाद कोई जलाई गई।
तुम पुकारो उसे चाहे जिस नाम से,
हर ज़माने में औरत सताई गई।[9]

एक स्त्री के लिए जीवन जीने का संघर्ष माँ की कोख से ही शुरू हो जाता है।

''पुरुषों के एक्स और वाई दो तरह के क्रोमोसोम्स बनते हैं जबकि महिलाओं में दोनों एक्स होते हैं। जब बच्चा बनता है तो मां की तरफ से तो एक क्रोमोसोम्स ही आयेगा। अगर पिता की तरफ से भी एक्स क्रोमोसोम्स आए तो लड़की होगी। अगर पिता का वाई क्रोमोसोम्स मां के एक्स क्रोमोसोम्स से जुड़ेगा तो लड़का होगा।''[10]

क्रोमोसोम्स के आधार पर ही लिंग निर्धारण की नीव टिकी होती है–

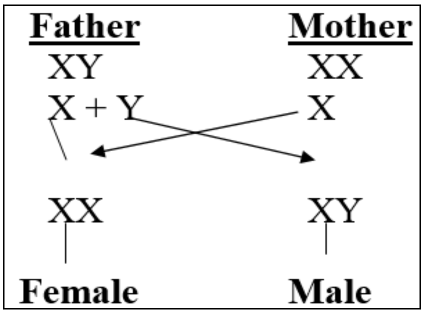

चित्र

वैज्ञानिक दृष्टि के आधार पर यह तथ्य हमारे सामने उभरकर स्पष्ट रूप से सामने है कि लिंग निर्धारण की भूमिका में पुरुष का मुख्य योगदान है जबकि सारा ईलज़ाम और प्रताड़ना स्त्री को सहनी पड़ती है। यह ऐसा सत्य है जिसे न तो कोई धार्मिक ग्रन्थ न ही कोई वैज्ञानिक तर्क जुठला सकता है। समाज को अपनी सुतावस्था से बाहर निकल कर स्त्री के प्रति अमानवीय व्यवहार

के प्रति दृष्टि बदलनी चाहिए। विकृत मानसिकता से निकल कर स्वस्थ दृष्टिकोण का निर्माण कर समाज के उज्जवल भविष्य की कामना की जा सकती है।

यौन हिंसा ऐसी हिंसा है जिसमें स्त्री को न केवल शारीरिक तौर पर बल्कि मानसिक रूप से भी प्रताड़ित होती है। नगर में हो रही जघन्य कुकृत्य का असर न केवल वहाँ की स्त्री के मन में असुरक्षा का भाव पैदा करता है बल्कि गाँव में ऐसी खबरें पहुंचने पर वहाँ की लड़कियों की शिक्षा पर तो पाबंदी तक लगा दी जाती है। अर्थात् देश में ऐसी निदंनीय घटना चाहे जहाँ भी घटित हो, वह समाज में स्त्री वर्ग के भीतर भय का माहौल पैदा करती है। ऐसी स्थिति में यह धारणा पल्लिवत हो जाती है कि जल्दी से लड़की की शादी कर दी जाए ताकि अभिभावक अपनी जिम्मेदारियों से मुक्त हो जाएं। जिस कारण बाल विवाह, लड़की की शिक्षा में बाधाएँ आदि समस्याएं उत्पन्न होती हैं। दिल्ली का दामिनी केस हो या हाल में ही उत्तरप्रदेश के हाथरस केस, स्त्री की इज्ज़त के साथ खिलौने की भांति खेला जा रहा है–

अभी भी दामिनी जलता हुआ–सा प्रश्न करती है,
जगा रहता है क्यों शैतान, क्यों इन्सान सोता है?[11]
बुत बनी बैठी है अपनी 'दामिनी'।
आबरू पर भी सियासत हो गई।[12]

कमलेश भट्ट कमल एक ओर नारी के साथ हो रहे दुष्कर्मों पर प्रश्न उठाते हैं कि क्यों आए–दिन अखबार और टी.वी. चेनैल ऐसी अमानवीय घटनाओं से लबरैस होता है। ऐसी घटनाएं मानव जाति के लिए मानव होने पर कलंक है। दूसरी तरफ डॉ. भावना स्त्री की पीड़ा की आड़ में छिपे उन सियासतदोनों पर तंज करती है जो सहानुभूति के नाम पर राजनीतिक रोटियां सेकते हैं।

ज्ञानप्रकाश पाण्डेय स्त्री सुरक्षा की पर सवाल करते हुए समाज के दोगले चरित्र वाले पुरुषों को आड़े हाथ लेते हुए लिखते हैं–

अब कहाँ जाएँ जनक की बेटियाँ ये,
भेश बदले एक रावण छल रहा है।[13]

घर से लेकर स्कूल तक तथा स्कूल से लेकर दफ्तर तक स्त्री को छेड़–छाड़ तथा यौन उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है। सफलता और पदोन्नति के रास्ते को उसकी देह के आधार पर परखा जाता है। कई फिल्मों में स्त्री को आज भी भोग–विलास की भूमिका में प्रस्तुत किया जाता है। जिस कारण नारी के प्रति वस्तुपरक दृष्टिकोण स्थापित किए जाने की कोशिश की जाती है साथ ही उसकी अस्मिता भी खतरे में पड़ जाती है। रचनाकार समाज में चारों ओर फैले अराजक माहौल में महिला के लिए सुरक्षित जगह के चुनाव का प्रश्न सभ्य समाज की सम्मुख रखते हैं जिस प्रश्न का उत्तर देने में समाज खुद को लाचार सा पाता है। यह वह समाज की असली हकीकत है जिससे वह चाहकर भी मुख मोड़ नहीं सकता है। समाज को यर्थाथ परिस्थिति से परिचित कराते हुए राज बाला 'राज' की पंक्तियां हैं–

जुल्म बढ़ते न दुनिया में इतने कभी,
बेटों की हरकतें तुम अगर देखते।[14]

समाज में माँ–बाप का बेटे के प्रति अन्ध लालसा तथा उसका स्त्री वर्ग के प्रति दुर्व्यवहार को नज़रअंदाज़ करना भी इस स्थिति का कारण है।

बाज़ार का आधार होता है मुनाफा। टेलीविज़न, पत्र–पत्रिकाएँ आदि माध्यमों द्वारा किशोरमन बटकाव की स्थिति में है। समाज में स्त्री के सौंदर्य का निर्धारण पुरुष द्वारा किया जा रहा है। 'लक 28 कुड़ी दा 47 वेट कुड़ी दा' जैसे गानों पर जब किशोर–किशोरी थिरकते हैं तो लड़की के प्रति नाजुक तथा कोमल रूप के मापदण्ड बना लिए जाते हैं।

उसे कोमल बनाने के भीतर षड्यंत्र यह होता है कि पुरुष का नियंत्रण उस पर बना रहे। उसे समाज में आज भी छुई–मुई सी, शरमीली सी, पतली कमर, गौरा रंग आदि सौंदर्य पेमानों में देखा जा रहा है। स्त्री को उसके देह के आकर्षण से मापा जाता है तथा ज्ञान और क्षमता की भूमिका नेपथ्य में है। बाज़ार उसे (स्त्री) को रोज़गार तो दे रहा है परन्तु कहीं न कहीं उसकी गरिमा पर प्रहार किया जा रहा है। बाज़ार के षड्यंत्र से अवगत कराते हुए अशोक मिज़ाज की पंक्तियां हैं

हवस परस्त की शैतानियाँ, ये क्या जाने,
घरों में बैठी हुई लड़कियां, ये क्या जाने।[15]

इस बात में दो राय नहीं है कि बाज़ार ने स्त्री के सम्मुख अनेक नई चुनौतियों को जन्म दिया है परन्तु जागृत नारी बाज़ार के दुचक्र से परिचित भी है तथा उसके दुचक्र से बचकर अपनी पहचान बनाना चाहती है। जिसे डॉ. भावना ने इस प्रकार शब्दबद्ध किया है–

भीड़ बाज़ार में बहुत है मगर,
खुद को बाज़ार से बचाना है।[16]

आज स्त्री के लिए सबसे बड़ा चुनौतिपूर्ण कार्य ही यही है कि वह बाज़ार की छीटों से बचाकर अपने अस्तित्व को स्थापित करे।

दहेज के नाम पर स्त्री की पीटाई करना, पुत्री होने पर उसे अपमानित करना, शराब पीकर उसे लड़ाई–झगड़ा, गाली देना, मज़ाक उड़ाना आदि अपमानजनक टिप्पणी कर स्त्री को उसके घर में ही उपेक्षित महसूस करवाया जाता है। यहीं से उसकी अस्मिता पर पहला प्रहार शुरू होता है। हमारे समाज में क्रोधावस्था में दूसरे से प्रतिशोध के भाव के कारण उसे माँ, बहन, बेटी आदि की गालियाँ दी जाती हैं। सभी गालियों के केन्द्र में स्त्री को ही रखा गया है। जिससे पुरुष अपनी मर्दानगी का परिचय करवाता है। मालिनी गौतम का शे'र है–

नशे में धुत्त अपने आदमी से मार खाकर भी,
बहुत ज़िदादिली से दर्द को वो भूल जाती हैं।[17]

अज्ञान के कारण नारी अपने प्रति हो रहे शोषण को भाग्य मानकर समझौता करती है। पितृसत्तात्मक समाज का ढाँचा इस प्रकार का बनाया गया है कि स्त्री आजीवन पुरुष पर निर्भर रहे। वह 'स्व' की कल्पना तक न कर सके। उसके अस्तित्व को पुरुष के अस्तित्व में इस प्रकार विलीन कर दिया गया है कि वह उससे बाहर अपना कोई वजूद ही नहीं मानती है। उसके लिए उसका पति ही सब कुछ हो जाता है। हमारे समाज में आज भी ऐसी स्त्रियाँ मिल जाएँगी जो पति से प्रताड़ना को अपनी किसमत मान लेती हैं, पति पर आरोप पाप का आधार बन जाता है, लोक लाज के कारण पीड़ा सहते रहना, पुरुष की संरक्षण में ही अपनी सुरक्षा पाना आदि धारणाएँ आज भी समाज में प्रचलित हैं। परन्तु जब भी रूढ़ मान्यताओं–परम्पराओं के कारण शोषण की अति होती है तो विद्रोह अपने आप पनपने लगता है। वही विद्रोह तथा असंतोष कहीं–न–कहीं स्त्री के मन के भीतर उद्भव हो चुका है। उसके अपने अधिकारों के प्रति सजगता के कारण पितृसमाज की खोखली जड़ें कमज़ोर होने लगी हैं। वशिष्ठ जी का मानना है–

मशालें जो हम–तुम जलाए हुए हैं
अंधेरे बहुत तिलमिलाए हुए हैं।[18]

मीनाक्षी जिजीविषा का शे'र है–

उसने ऐसा सवाल रक्खा है
सबको उलझन में डाल रक्खा है।[19]

आज स्त्री रूढ़ीगत मान्यताओं को तोड़ अपने 'स्व' के प्रश्न को समाज के सामने रखा है।
अन्तर केवल इतना है कि स्त्री को कभी कमरे से बाहर निकल कर पहचान बनाने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। आज जब उसे अपनी पहचान बनाने का अवसर प्रदान हो रहे हैं, तो वह हर जगह अपनी योग्यता के भलभूते खुद की पहचान बना रही है। अपनी स्व की शक्ति के बारे में लेखिका लिखती हैं–

हम किसी से भी कहीं कमतर नहीं,
बस मिला हमको कभी अवसर नहीं।[20]
अब तो दो तुम उसको जायज़ हक उसका,
घर की तख्ती के इस पत्थर से आगे।[21]

आज की स्त्री आत्मविश्वास तथा अपनी क्षमता से परिचित है। वह स्वयं को किसी भी स्तर पर पुरुष से कम नहीं समझती है। समाज की बिडम्बना यह है कि उसने स्त्री को देवी, प्रेयसी, दासी आदि रूपों में स्वीकार तो किया परन्तु मानव रूप की सदैव अवहेलना की गई। उसे मानव रूप में कभी स्वीकार ही नहीं किया, जिसकी खुद की भी ख्वाहिशें, अभिलाषा या पहचान हो सकती है। परन्तु आज वह अपने अस्तित्व की खोज के लिए समाज के हर रूढ़ व्यवस्था को लांग रही है–

रोटी, कपड़ा बच्चे घर वर के आगे,
सोच रही है दीवारों–दर के आगे।
चूल्हा, चौका, झाड़ू, पौंछा औ बर्तन,
देख रही सपना इस मंजर से आगे।
लोग कहेंगे ऐसा–वैसा औ क्या–क्या,
बढ़ गई है वो इस डरवट के आगे।[21]

वह निडरतापूर्वक अपने फैसले ले रही है। दीप्ति मिश्र के अश'आर है–

वो नहीं मेरा मगर उससे मुहब्बत है तो है,
ये अगर रस्मों रिवाज़ों से बगावत है तो है।
सच को मैंने सच कहा जब, कह दिया तो कह दिया,
अब ज़माने की नज़र में हिमाकत है तो है।[22]
खोजने निकलें हैं खुद को खोज ही लेंगे कभी,
हाँ खुद की खोज में घर बार छूटेगा जरूर।[23]

स्त्री इस स्थिति से भली–भांति परिचित है कि वह जब भी अपने 'स्व' की रक्षा के लिए प्रश्न करेगी तो सबसे पहले विरोध घर से ही शुरू होगा। एक बंधी बधाई मान्यता को बदलने में वक्त तो लगेगा परन्तु इसका ख़ामयाज़ा उसे अपने ही घर में विरोध के रूप में सहन करना पड रहा है। आज नारी को अपनी रक्षा के लिए स्वयं ही रक्षक बनना पड़ेगा तभी वह समाज के भीतर अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकेगी। वशिष्ठ अनूप का शे'र है–

ज़रूरी है कि द्रौपदियाँ स्वयं बाँधे कमर क्योंकि,
दुशासन छोड़ दे तो कृष्ण पट ले भाग जायेंगे।[24]

वक्त की जरूरत है कि स्त्री अपनी रक्षक खुद बने। इस बात को जूठलाया नहीं जा सकता कि स्त्री के अस्तित्व के खत्म होने पर मानव जाति का अस्तित्व भी संकट में पड़ जाएगा। उसकी भूमिका की अहमियत पर अनूप जी की पंक्तियाँ हैं–

घर के आगँन में ज्यों किलकारियाँ ज़रूरी हैं।
उसी तरह घरों में बेटियाँ ज़रूरी हैं।
कहीं विरान न हो जाए धरा फूलों से,
ये खिलखिलाती हुई लड़कियां ज़रूरी हैं।[25]

21 वीं सदी के दौर में चारों ओर नारी–सशक्तिकरण का बोलबाला है। शिक्षा के प्रचार–प्रसार के कारण स्त्री अपने मूल अधिकारों के प्रति जागरूक हो रही है। स्त्री के उत्थान में विवेकी पुरुषों की भूमिका अहम रही है, जिन्होंने स्त्री के अधिकारों के लिए समाज में आवाज़ उठाई। राजा राममोहन रॉय, स्वामी विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि महान बुद्धिजीवों ने स्त्री को उसका असली स्थान दिलवाने के कई प्रयास किए तथा स्त्री के प्रति हो रहे अमानवीय रीति–रिवाज़ों का भी विरोध किया। न केवल स्त्री बल्कि पुरुष भी ऐसी संस्थाएं चला रहे हैं जिसमें पुरुषों द्वारा नारी के खिलाफ हो रहे शोषण पर आवाज़ उठाई जा रही है। 1993 में भारत में Mava (Men Against Violence and Abuse) पहला पुरुष संगठन है जोकि महिलाओं के खिलाफ हो रही हिंसा को रोकने के लिए निरंतर कार्य कर रहा है।
अपने अस्तित्व को बनाने के लिए स्त्री जब रणक्षेत्र में निकली तो फूलों से उसका स्वागत नहीं हुआ बल्कि घात–प्रतिघात, यौन हिंसा, यौन विकृति आदि समस्याओं का सामना करना पड़ा। स्त्री के लिए अबला शब्द का प्रयोग प्रचलन में रहा है परन्तु आज जो स्त्री सबला है क्या वो सताई नहीं जा रही? पिछले दशक से कई गम्भीर चुनौतियाँ उसके सामने इस दशक में हैं। क्योंकि पहले उसे अपने शोषण का आभास नहीं था बल्कि वह उसे कर्त्तव्य, भाग्य समझ लेती थी। परन्तु आज जब वह सुतावस्था से निकल रही है, तो उसके खिलाफ षड्यंत्रों की नई राहें बनाई जा रही हैं। उसके जीवन को विस्तार तो मिला परन्तु विस्तार की राह जोखिमों से भरी हुई है।
हिन्दी ग़ज़लों में स्त्री के अबला तथा सबला दोनों रूपों को उसकी समस्याओं तथा चुनौतियों के साथ बारीकी के साथ उसके जीवन की गाथा को उकेरा है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. हरेराम समीप, समकालीन महिला ग़ज़लकार, पृ. 59
2. हरेराम समीप, समकालीन महिला ग़ज़लकार, पृ. 69
3. हरेराम समीप, समकालीन महिला ग़ज़लकार, पृ. 69
4. ओम प्रकाश, बिहारी सार्धशती, पृ. 41
5. रमेश कँवल, 2020 की नुमाइंदा ग़ज़लें, पृ. 256
6. वशिष्ठ अनूप, तेरी आँखें बहुत बोलती हैं, पृ. 41
7. हरेराम समीप, समकालीन महिला ग़ज़लकार, पृ. 107
8. हरेराम समीप, समकालीन महिला ग़ज़लकार, पृ. 136
9. वशिष्ठ अनूप, तेरी आँखें बहुत बोलती हैं, पृ. 66
10. मुहम्मद नईम, महिला सशक्तिकरण : चुनौतियां एवं समाधान, पृ. 9
11. कमलेश भट्ट कमल, शिखरों के सोपान, पृ. 20
12. भावना, शब्दों की कीमत, पृ. 58
13. ज्ञानप्रकाश पाण्डेय, सर्द मौसम की ख़लिश, पृ. 92
14. रमेश कँवल, 2020 की नुमाइंदा ग़ज़लें, पृ. 256
15. अशोक मिज़ाज, किसी किसी पे ग़ज़ल महरबां होती है, पृ. 19
16. भावना, शब्दों की कीमत, पृ. 51
17. हरेराम समीप, समकालीन महिला ग़ज़लकार, पृ. 136
18. रमेश कँवल, 2020 की नुमाइंदा ग़ज़लें, पृ. 267
19. हरेराम समीप, समकालीन महिला ग़ज़लकार, पृ. 143
20. हरेराम समीप, समकालीन महिला ग़ज़लकार, पृ. 142
21. हरेराम समीप, समकालीन महिला ग़ज़लकार, पृ. 144

22. हरेराम समीप, समकालीन महिला ग़ज़लकार, पृ. 144
23. हरेराम समीप, समकालीन महिला ग़ज़लकार, पृ. 63
24. हरेराम समीप, समकालीन महिला ग़ज़लकार, पृ. 65
25. वशिष्ठ अनूप, बंजारे वमन, पृ. 5
26. वशिष्ठ अनूप, मशालें फिर जलाने का समय है, पृ. 16